

सबलगादी

अगस्त 2026 • ₹ 50

विचारधारा, न्याय और लोकतन्त्र

- प्रदर्शन और आन्दोलन की वैचारिकी
- प्रेस स्वाधीनता पर वैश्विक हमला
- अनसुनी आवाजों की सिनेमाई अनुगूँज



सबलीदा-150

वर्ष 17, अंक 8, अगस्त 2026

ISSN 2277-5897 SABLOG

PEER REVIEWED JOURNAL

www.sablog.in

सम्पादक

विमल कालजयी

संयुक्त सम्पादक

प्रकाश देवगुप्ता

राजन अग्रवाल

उप-सम्पादक

कुलदान चौधरी

समीक्षा समिति

(Peer Review Committee)

आनन्द कुमार

रत्नेश्वर मिश्र

मनीन्द्र नाथ ठाकुर

मंजु रानी सिंह

सम्पद इन्वेष कालदी

इमोद मोन

एजेन्द्र रवि

गणेश

महेश्वर टोपड़े

विमल कुमार

शर्मा

रमेश कुमार शुक्ल

अखिलेश 'आहन'

अनघ सागर मिश्र

समाचारकीय संपर्क

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,

रोहिणी, दिल्ली-110089

+918340436365

sablogmonthly@gmail.com

सहस्रता शुक्ल

एक अंक : 50 रुपये

वर्षिक : 1100 रुपये डिजिटल अंक से

समाचार

आता संख्या-49482000000045



बैंक ऑफ़ इंडिया,

राखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB07KDBAD

(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किसान कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी डिपार्टमेंट, 55A जी.टी. रोड साह्यदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

परिच्छेद में प्रकाशित आलेखों में जकात विचार लेखकों के हैं, उनके सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

परिच्छेद अख्यारखण्ड और सभी पर अवैतनिक।

परिच्छेद में सम्पादित किसी भी विचार के लिए सम्पादक दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

विचारधारा, न्याय और लोकतन्त्र

मुलादी / लोकतन्त्र का भविष्य : विचारधारा, न्याय और नागरिक विवेक : किसान कालजयी 3

राष्ट्रीय संकट और लोकतान्त्रिकरण की नयी लहर : आनंद कुमार 5

स्वरूप, संकट और विह्वलता : रामशरण जोशी 7

पञ्चायत चरम का अधूरा जलन : पार्थ बनर्जी 9

अविचल और वारसागत के दौर में न्याय : प्रफुल्ल कोलह्याण 12

सभी का जून शामिल है यहाँ की मिट्टी में : मणिमाला 14

आइडिपोलीनी की हानि : शंकर शर्मा 16

कल्याण और विवेक का जनतान्त्रिक सम्पर्क : ईश्वर सिंह दोस्त 18

चेतना और औन्दर्व-बोध का नया क्षितिज : कैथक सिंह 20

लोकतन्त्र, धर्म और पहचान की राजनीति : मोहम्मिना बानो 22

भोजपुर, जगदीश महतो और सामाजिक जलन : ज्ञान कश्यप 24

सृजनलोक

कविताई : गुंजन उपाध्याय पाठक, टिप्पणी : इमीकेश सुलभ, रेखांकन : रोखर 26

देश

इशरक्षण / परिशीलन और अविचारी न्याय : सुधीर पाल 28

विचार / विचार, न्याय और लोकतन्त्र की कसौटी : कुमार कृष्ण 30

हरियाणा / प्रदर्शन और आन्दोलन की वैचारिकी : अजय सिंह 32

साम्बा

सीली पट्टी / शरण्य का बदलता चेहरा : राजेश कुमार 34

वज्र-तंत्र / पायापरी में सहित्य-सुखन : जय प्रकाश 37

देशान्तर / अमरीका और इनपुट की एनर्जेटिक सङ्गीतरी : क्षीरजन मालवे 40

प्राची परिकषा / लोकतन्त्र, स्मृति और इतिहास : हितेश पटेल 43

विविध

सहस्रतामा / दिल्ली के जल-तन्त्र की धूली हुई कहानी : राजेश्वर रवि 46

स्वस्थ / शरीर की कसौटी पर जीवनरक्षण : स्नेह सुभा 49

जन-गण-मान / इस स्वाधीनता पर वैश्विक हमला : सर्वेश कुमार शर्मा 51

आन्दोलन / खेतीम चीतक, कोकोम आन्दोलन और राजनीति : रणवीर चौधरी 54

शिवेय / अनसुनी आवाजों की शिवेयई अनुसूच : रक्षा बीता 56

शिवेय सुकाटी हाथ / बड़ा यदा हि धर्मयः पृथ्वीराज चौहान 58

शमसान / अगस्त में जून को याद करते हुए : देव प्रकाश चौधरी 59

आधारा : शशिभान सिंह

अक्षर संयोजन: आशीष कुमार पाठक

अगला अंक : शिक्षा के लौटपलों से सजला

लोकतन्त्र का भविष्य : विचारधारा, न्याय और नागरिक विवेक



इक्कीसवीं सदी का सबसे बड़ा राजनीतिक विरोधाभास यह है कि लोकतन्त्र पहले की तुलना में अधिक व्यापक दिखाई देता है, लेकिन उसके प्रति विश्वास और भरोसा पहले से कम हो गया है। लोकतन्त्र को लेकर हमारे समय में जितनी चर्चा हो रही है, शायद पहले कभी नहीं हुई। विडम्बना यह है कि यह चर्चा लोकतन्त्र की उपलब्धियों से अधिक उसके संकटों

और संघर्षों को लेकर हो रही है। दुनिया के अधिकांश देशों में चुनाव नियमित हो रहे हैं, संविधान अस्तित्व में हैं, संसदे कार्यरत हैं और नागरिक अधिकारों की भाषा पहले से कहीं अधिक मुखर हुई है। इसके बावजूद लोकतन्त्र की साँसें उखड़ रही हैं।

लोकतन्त्र संकट में इसलिए है कि उसकी संस्थाएँ क्षरणोन्मुख हैं और उनका नैतिक आधार लगातार कमजोर हो रहा है। अनेक समाजों में लोकतान्त्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता, राजनीतिक नेतृत्व की निष्ठा और नागरिक सहभागिता को लेकर तीखे प्रश्न उठ रहे हैं। यह स्थिति केवल किसी एक देश की नहीं, बल्कि विश्वव्यापी लोकतान्त्रिक अनुभव का हिस्सा बनती जा रही है। यदि सत्ता परिवर्तन तो होता रहे, लेकिन नागरिकों का विश्वास घटता जाए, असमानताएँ बढ़ती जाएँ, सार्वजनिक संस्थाएँ निर्बल होती जाएँ और असहमति के लिए स्थान संकुचित होने लगे, तो लोकतन्त्र का बाहरी ढाँचा भले बना रहे, उसकी आत्मा क्षीण होने लगती है।

यही कारण है कि लोकतन्त्र को केवल चुनावों, सरकारों और राजनीतिक दलों की गतिविधियों तक सीमित करके नहीं समझा जा सकता। मूल प्रश्न यह है कि क्या लोकतन्त्र केवल सत्ता परिवर्तन की प्रक्रिया है, या वह ऐसे समाज की रचना का स्वप्न भी है जिसमें मनुष्य गरिमा, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय के साथ जीवन जी सके। यही विरोधाभास हमारे समय की सबसे बड़ी लोकतान्त्रिक चुनौती है और इसी से विचारधारा, न्याय तथा लोकतन्त्र के सम्बन्ध पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बड़े आत्मविश्वास के साथ यह घोषणा की गयी थी कि विचारधाराओं का युग समाप्त हो चुका है। शीतयुद्ध की समाप्ति और उदारवादी पूँजीवाद की वैश्विक विजय के बाद इस विश्वास को पसारा गया कि अब इतिहास के बड़े वैचारिक संघर्ष अप्रासंगिक हो गये हैं और लोकतन्त्र तथा मुक्त बाजार ही मानव सभ्यता की अन्तिम राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था हैं। किन्तु इक्कीसवीं सदी के अनुभवों ने इस दावे को अस्थिर कर दिया। राष्ट्रवाद, धार्मिक राजनीति, सामाजिक न्याय के आन्दोलन, जाति-विरोधी संघर्ष, स्त्रीवादी विमर्श, पर्यावरणीय न्याय और पहचान की राजनीति ने स्पष्ट कर दिया कि विचारधाराएँ समाप्त नहीं हुईं; उन्होंने केवल अपना रूप, भाषा और अभिव्यक्ति के माध्यम बदल लिये हैं।

वास्तविक प्रश्न विचारधारा के अस्तित्व का नहीं, बल्कि उसके चरित्र का है। विचारधारा केवल राजनीतिक दलों के घोषणापत्र या दार्शनिक ग्रन्थों तक सीमित नहीं होती; वह ऐसी दृष्टि है जिसके माध्यम से हम समाज, समानता, स्वतन्त्रता, विकास, अधिकार और न्याय जैसे मूल्यों को समझते हैं। आज विचारधाराएँ मीडिया, सोशल मीडिया, चुनावी अभियानों, कॉरपोरेट हितों और डिजिटल एग्लोरिया के माध्यम से भी निर्मित और प्रसारित हो रही हैं। अनेक बार वे विचार से अधिक पहचान, संवाद से अधिक ध्रुवीकरण और सार्वजनिक विवेक से अधिक भावनात्मक लामबन्दी का साधन बन जाती हैं। इसलिए

आवश्यकता विचारधाराओं के अन्त की घोषणा करने की नहीं, बल्कि यह समझने की है कि वे बदलते समय में लोकतन्त्र, न्याय और नागरिक चेतना को किस प्रकार प्रभावित कर रही हैं।

लोकतन्त्र की वास्तविक शक्ति विविध विचारधाराओं के बीच संवाद, असहमति और आत्मालोचन की संस्कृति को जीवित रखने में है। जहाँ विचार समाप्त होते हैं, वहाँ नारे जन्म लेते हैं; जहाँ तर्क को भावनाएँ निगल जाती हैं, वहाँ नागरिक समर्थक और विरोधी समूहों में विभाजित होने लगते हैं। इसलिए हमारे समय का वास्तविक संकट विचारधाराओं का द्वन्द्व नहीं, बल्कि विचारहीनता का विस्तार है।

लोकतन्त्र स्वयं भी कोई तटस्थ अवधारणा नहीं है। इतिहास में इसकी अनेक व्याख्याएँ रही हैं। उदारवादी परम्परा ने इसे नागरिक स्वतन्त्रताओं, विधि के शासन और प्रतिनिधिक संस्थाओं से जोड़ा, जबकि समाजवादी परम्परा ने आर्थिक समानता और सामाजिक अधिकारों को उसकी अनिवार्य शर्त माना। अनेक सामुदायिक और सहभागी दृष्टियों ने लोकतन्त्र को केवल मतदान की प्रक्रिया नहीं, बल्कि नागरिक सहभागिता की सतत संस्कृति के रूप में देखा। इस प्रकार लोकतन्त्र का अर्थ केवल शासन-व्यवस्था तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह समाज की नैतिक और राजनीतिक संरचना से भी जुड़ जाता है।

यहीं न्याय का प्रश्न लोकतन्त्र के केन्द्र में उपस्थित होता है। न्याय केवल अदालतों, कानूनों और संवैधानिक प्रावधानों का विषय नहीं है; उसका सम्बन्ध मनुष्य की गरिमा, अवसरों की समानता, संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण, सामाजिक सम्मान और राजनीतिक भागीदारी से भी है। यदि किसी समाज में जन्म के आधार पर वंचनाएँ बनी रहें, स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों, श्रमिकों या अल्पसंख्यकों को व्यवहार में बराबरी का दर्जा न मिले, अथवा आर्थिक विषमता इतनी बढ़ जाए कि बड़ी आबादी सम्मानजनक जीवन से वंचित रह जाए, तो केवल नियमित चुनाव लोकतन्त्र को सार्थक नहीं बना सकते।

इसलिए लोकतन्त्र का मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि उसमें चुनाव कितने नियमित होते हैं या सरकारें कितनी बार बदलती हैं। उसका वास्तविक मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह न्याय, समानता और मानवीय गरिमा की कितनी सम्भावना उत्पन्न करता है। लोकतन्त्र तभी जीवन्त रहता है जब वह राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक न्याय की दिशा में भी निरन्तर आगे बढ़ता रहे।

भारतीय लोकतान्त्रिक अनुभव इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही भारत ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार को स्वीकार किया। यह निर्णय अपने समय में अत्यन्त साहसिक था। गहरे सामाजिक विभाजनों वाले समाज में लोकतन्त्र को केवल शासन-व्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में देखा गया। संविधान निर्माताओं ने उसे न्याय, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व और मौलिक अधिकारों के व्यापक आदर्शों से जोड़ा। संविधान की प्रस्तावना में इन मूल्यों को जिस प्रकार एक-दूसरे से सम्बद्ध रखा गया है, वह इस बात का प्रमाण है कि भारतीय लोकतन्त्र का उद्देश्य केवल सत्ता परिवर्तन नहीं, बल्कि समाज के लोकतान्त्रिक पुनर्निर्माण की दिशा निर्धारित करना भी था।

भारतीय संविधान केवल शासन की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाला दस्तावेज नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की एक ऐतिहासिक प्रतिबद्धता भी है। उसने राजनीतिक समानता के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन की दिशा

स्पष्ट की, ताकि लोकतन्त्र केवल मताधिकार तक सीमित न रह जाए, बल्कि समाज के वंचित और उपेक्षित वर्गों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन की सम्भावनाएँ भी निर्मित करे।

किन्तु स्वतन्त्रता के लगभग आठ दशक बाद भी यह स्वीकार करना होगा कि संविधान की आकाँक्षाओं और सामाजिक यथार्थ के बीच पर्याप्त दूरी बनी हुई है। लोकतान्त्रिक संस्थाओं का विस्तार हुआ है, किन्तु सामाजिक असमानताएँ, आर्थिक विषमताएँ और न्याय तक समान पहुँच की चुनौतियाँ अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं। इसलिए भारतीय लोकतन्त्र की सफलता का मूल्यांकन केवल चुनावों की नियमितता या सत्ता परिवर्तन से नहीं, बल्कि इस आधार पर भी किया जाना चाहिए कि संविधान में निहित न्याय, समानता और गरिमा के आदर्श सामाजिक जीवन में कितनी दूर तक साकार हो पाये हैं।

भारतीय लोकतन्त्र के सामने सबसे गम्भीर चुनौतियों में से एक लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्वायत्तता और उन पर जनविश्वास का प्रश्न है। न्यायपालिका को संविधान का संरक्षक तथा नागरिक अधिकारों का अन्तिम प्रहरी माना गया है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों में उसकी स्वतन्त्रता, निष्पक्षता और संस्थागत विश्वसनीयता को लेकर गम्भीर प्रश्न उठे हैं। संवैधानिक महत्त्व के मामलों की सुनवाई में असामान्य विलम्ब, सरकार से जुड़े विवादों में न्यायिक सक्रियता और निष्क्रियता के भिन्न मानदण्ड, तथा सेवानिवृत्ति के बाद न्यायाधीशों की राजनीतिक अथवा संवैधानिक पदों पर नियुक्तियों ने इस बहस को और गहरा किया है।

अयोध्या विवाद पर ऐतिहासिक निर्णय देने वाली संविधान पीठ के प्रधान न्यायाधीश रंजन गोगोई का सेवानिवृत्ति के कुछ ही महीनों बाद राज्यसभा के लिए मनोनीत होना तथा उसी पीठ के सदस्य न्यायमूर्ति एस. अब्दुल नजीर का बाद में राज्यपाल नियुक्त किया जाना ऐसे उदाहरण हैं, जिन पर व्यापक सार्वजनिक चर्चा हुई। इसी प्रकार अनेक पूर्व न्यायाधीशों तथा महत्त्वपूर्ण संवैधानिक और वैधानिक संस्थाओं के प्रमुखों की सरकारी पदों पर नियुक्तियों ने न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच आवश्यक संस्थागत दूरी को लेकर आशंकाएँ पैदा की हैं। प्रश्न किसी व्यक्ति या किसी एक सरकार का नहीं, बल्कि उस सार्वजनिक विश्वास का है जिस पर लोकतन्त्र की नैतिक शक्ति टिकी रहती है। न्याय केवल निष्पक्ष होना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि जनता को निष्पक्ष दिखाई भी देना चाहिए।

इसी कारण अब इस माँग पर राष्ट्रीय सहमति आवश्यक है कि न्यायपालिका, निर्वाचन आयोग, सीबीआई, ईडी तथा अन्य महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के प्रमुखों को सेवानिवृत्ति के तुरन्त बाद राजनीतिक, लाभ अथवा प्रभावशाली सरकारी पदों पर नियुक्त करने की परम्परा पर रोक लगनी चाहिए। संसद को इस विषय में ऐसा स्पष्ट कानून बनाने पर विचार करना चाहिए, जो इन पदों के लिए एक निश्चित 'शीतकाल' तथा पारदर्शी और स्वतन्त्र नियुक्ति-प्रक्रिया सुनिश्चित करे। लोकतन्त्र की सबसे बड़ी पूँजी उसकी संस्थाओं पर जनता का विश्वास है; उसकी रक्षा हर लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सर्वोच्च प्राथमिकता होनी चाहिए।

समकालीन लोकतन्त्र के सामने चुनौतियाँ केवल राजनीतिक नहीं हैं; वे तकनीकी, सामाजिक और पर्यावरणीय भी हैं। आज अनेक देशों में राजनीतिक एकध्रुवीयता और असहमति के लिए सिकुड़ता स्थान लोकतान्त्रिक संस्कृति को कमजोर कर रहा है। संवाद लोकतन्त्र का प्राण है, किन्तु असहमति को विरोध के बजाय शत्रुता के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। ऐसी स्थिति में बहुलता, सहिष्णुता और भिन्न विचारों के प्रति सम्मान जैसी लोकतान्त्रिक आधारभूमि धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। भारतीय समाज की शक्ति उसकी भाषाई, धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता में निहित है। यह विविधता तभी सुरक्षित रह सकती है जब असहमति को लोकतान्त्रिक मूल्य के रूप में

स्वीकार किया जाए।

डिजिटल युग ने लोकतन्त्र की बहस को और जटिल बना दिया है। सूचना और संचार के नये माध्यमों ने नागरिकों को अभूतपूर्व अवसर दिये हैं, लेकिन दुष्प्रचार, फेक न्यूज, एल्गोरिथमिक नियन्त्रण और डिजिटल निगरानी जैसी चुनौतियाँ भी सामने आयी हैं। सूचना का लोकतन्त्रीकरण हुआ है, पर उसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ भी बढ़ी हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता और डेटा-आधारित शासन के इस दौर में नागरिक स्वतन्त्रता, निजता और जवाबदेही के प्रश्न नये रूप में उपस्थित हुए हैं। इनका समाधान केवल तकनीकी उपायों से नहीं, बल्कि लोकतान्त्रिक मूल्यों और संवैधानिक विवेक के आधार पर ही सम्भव है।

इसी प्रकार पर्यावरणीय संकट भी लोकतन्त्र और न्याय की बहस का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। विकास की परियोजनाओं का बोझ प्रायः उन्हीं समुदायों पर पड़ता है जिनकी आवाज सबसे कम सुनी जाती है। जल, जंगल और जमीन से जुड़े प्रश्न केवल पर्यावरण के नहीं, बल्कि न्याय, समान भागीदारी और भविष्य की पीढ़ियों के जीवन के प्रश्न भी हैं। इसलिए लोकतन्त्र को अपने समय की इन नयी चुनौतियों का सामना करते हुए विकास, न्याय और मानवीय गरिमा के बीच सन्तुलन स्थापित करना होगा।

लोकतन्त्र का भविष्य केवल राजनीतिक संस्थाओं या संवैधानिक व्यवस्थाओं से निर्धारित नहीं होगा; वह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि समाज अपने भीतर वैचारिक संवाद और न्याय की विविध अवधारणाओं के लिए कितना खुला रहता है। उदारवादी दृष्टि नागरिक अधिकारों और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल देती है, समाजवादी दृष्टि आर्थिक विषमता को अन्याय का मूल स्रोत मानती है, गाँधीवादी विचार नैतिकता, विकेन्द्रीकरण और मानवीय करुणा को महत्त्व देता है, जबकि अम्बेडकरवादी चिन्तन सामाजिक लोकतन्त्र और जाति-विरोधी संघर्ष को न्याय का केन्द्रीय प्रश्न मानता है। स्त्रीवादी और आदिवासी दृष्टियाँ भी उन अनुभवों को सामने लाती हैं जिन्हें मुख्यधारा की राजनीति प्रायः हाशिए पर छोड़ देती है। इन दृष्टियों के बीच मतभेद स्वाभाविक हैं, किन्तु लोकतान्त्रिक समाज की शक्ति इन्हीं के बीच निरन्तर संवाद में निहित होती है।

यहीं साहित्य, संस्कृति और बौद्धिक विमर्श का महत्त्व बढ़ जाता है। इतिहास साक्षी है कि जब-जब लोकतन्त्र पर संकट आया है, साहित्य ने केवल उसका दस्तावेज नहीं लिखा, बल्कि उसके पक्ष में नैतिक प्रतिरोध भी खड़ा किया है। प्रेमचन्द, महाश्वेता देवी, मुक्तिबोध और नागाजुन से लेकर समकालीन दलित, स्त्रीवादी और आदिवासी लेखन तक एक समृद्ध परम्परा हमें यह स्मरण कराती है कि लोकतन्त्र का अर्थ केवल शासन बदलना नहीं, बल्कि मनुष्य को उसकी गरिमा लौटाना है। प्रचार, तात्कालिक उत्तेजना और सूचनाओं की भीड़ के इस दौर में साहित्य का दायित्व और बढ़ जाता है, क्योंकि वही घटनाओं के नैतिक अर्थ को समझने की दृष्टि विकसित करता है।

अन्ततः विचारधारा, न्याय और लोकतन्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की स्वतन्त्रता और गरिमा से जुड़ा है। लोकतन्त्र तभी टिकाऊ हो सकता है जब वह न्यायपूर्ण हो; न्याय तभी स्थायी हो सकता है जब वह लोकतान्त्रिक हो; और दोनों की दिशा को समझने के लिए वैचारिक बहसों का जीवित रहना आवश्यक है। लोकतन्त्र का भविष्य केवल चुनावों या सत्ता परिवर्तन से निर्धारित नहीं होगा, बल्कि इस बात से तय होगा कि हम न्याय, विचार, असहमति, संस्थाओं की स्वायत्तता और नागरिक विवेक की रक्षा कितनी ईमानदारी से कर पाते हैं। यही हमारे समय का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक दायित्व है।

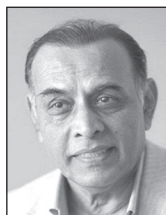
(किशन कालजयी)

राष्ट्रीय संकट और लोकतान्त्रिकरण की नयी लहर

आनंद कुमार

आवरण कथा

भारतीय लोकतन्त्र की सबसे बड़ी चुनौती संविधान में निहित न्याय, समता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व और समान नागरिकता के मूल्यों को सामाजिक जीवन में लागू करना है। विषमता, चुनावी प्रक्रिया में धनबल, परिवारवाद और शासन का प्रभाव, लोकतन्त्र को कमजोर कर रहे हैं। भारतीय राष्ट्रीयता को किसी एक धार्मिक या सांस्कृतिक पहचान के आधार पर नहीं, बल्कि साझी नागरिकता और संवैधानिक मूल्यों के आधार पर सुदृढ़ किया जा सकता है। लोकतन्त्र का भविष्य सत्ता परिवर्तन से अधिक उसके गहन लोकतान्त्रिकरण, सहभागी शासन, सामाजिक न्याय और विविधता के सम्मान पर निर्भर है।



लेखक प्रसिद्ध समाजशास्त्री और दयानंद बंदोदकर पीठ, गोवा विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

+919650944604

anandkumar1@hotmail.com

भारत के राजनेताओं का दावा है कि स्वतन्त्रता के 75 वर्ष पूरे कर देश 'अमृत काल' में प्रवेश कर चुका है और भारतीय लोकतन्त्र का देशज आधार पहले से अधिक मजबूत हुआ है। नियमित चुनाव, इतिहास और शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान, किसान और मजदूर संगठनों के आन्दोलन, अनेक राज्यों में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन (राजग) से इतर दलों की सरकारें, संसद में सरकार की आलोचना तथा अनेक अवसरों पर सरकारी प्रस्तावों का विरोध—इन सबको इस दावे के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

दूसरी ओर, विपक्षी दल और अनेक स्वतन्त्र विश्लेषक इस दावे को अतिरंजित मानते हैं। उनके अनुसार भारतीय लोकतन्त्र आज लैंगोटिया पूँजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) और साम्प्रदायिक राजनीति के गठजोड़ के दबाव में है। उद्योगपति घरानों के प्रति सरकारी झुकाव, चुनावी बॉन्ड योजना, प्रधानमंत्री कार्यालय में सत्ता का बढ़ता केन्द्रीकरण, प्रवर्तन निदेशालय, सीबीआई और आयकर विभाग जैसी संस्थाओं के कथित राजनीतिक दुरुपयोग, चुनावों में धनबल और बाहुबल की बढ़ती भूमिका, मीडिया के बड़े हिस्से का सरकार समर्थक रुख तथा सरकार के आलोचकों की लम्बी न्यायिक प्रक्रिया के बिना गिरफ्तारी जैसे प्रश्न लगातार उठाए जाते रहे हैं। भीमा-कोरेगाँव प्रकरण, आम आदमी पार्टी के नेताओं की गिरफ्तारियाँ, 'न्यूजक्लिक' के संस्थापक प्रबीर पुरकायस्थ तथा छात्र नेताओं उमर खालिद और शरजील इमाम से जुड़े मामले भी इसी सन्दर्भ में उद्धृत किए जाते हैं।

हमारा विदेशी कर्ज 2014 में 440 अरब डॉलर से बढ़कर 2026 में 762 अरब डॉलर हो गया है। हमारे बाजार में चीन निर्मित वस्तुओं की प्रधानता बनी हुई है। लोकतन्त्र की गुणवत्ता की दृष्टि से 179 देशों में भारत का 100वाँ स्थान चिन्ता का विषय है। भारत को 'चुनावी निरंकुशता' की ओर बढ़ते देश के रूप में भी देखा जाने लगा है। लोकतन्त्र की गुणवत्ता, मानव विकास, सामाजिक सुरक्षा, प्रेस की स्वतन्त्रता और भ्रष्टाचार जैसे अनेक अन्तरराष्ट्रीय सूचकांकों में भारत की स्थिति

अपेक्षित नहीं मानी जाती। न्यायपालिका, चुनाव आयोग और मीडिया जैसी लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्वायत्तता पर सार्वजनिक बहस तेज हुई है। दूसरी ओर, व्यापक आर्थिक विषमता बनी हुई है। करोड़ों नागरिक सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर निर्भर हैं, जबकि संसद में करोड़पति सांसदों का अनुपात लगातार बढ़ा है। यह बढ़ती आर्थिक दूरी लोकतन्त्र की सामाजिक विश्वसनीयता पर गम्भीर प्रश्नचिह्न लगाती है। इन परिस्थितियों में सत्ता पक्ष और विपक्ष के परस्पर आरोपों से आगे बढ़कर यह पूछना आवश्यक है कि भारतीय लोकतन्त्र के सामने वे कौन-से बुनियादी प्रश्न हैं, जो उसके जन्मकाल से आज तक बने हुए हैं और जिनकी उपेक्षा अब सम्भव नहीं रह गयी है।

भारतीय लोकतन्त्र के 'यक्ष प्रश्न'

भारतीय लोकतन्त्र अपने जन्मकाल से ही कुछ बुनियादी समस्याओं से जूझता रहा है। इनमें न्याय की अधूरी स्थापना, राष्ट्रीयता की कमजोर सामाजिक नींव, नागरिकता को चुनौती देने वाली साम्प्रदायिक, जातीय और क्षेत्रीय अस्मिताएँ, नागरिक अधिकारों की उपेक्षा, बहुसंख्यक समुदायों तथा प्रभुत्वशाली जातियों द्वारा लोकतान्त्रिक मर्यादाओं का अतिक्रमण और विविधता में एकता की भावना का क्रमशः क्षीण होना प्रमुख हैं। इन प्रश्नों की अनदेखी अब सम्भव नहीं रह गयी है।

यदि प्रतिनिधित्व और हिस्सेदारी को लोकतन्त्र में निहित न्याय का मूलाधार माना जाए, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या हम स्त्री-पुरुष, गाँव-शहर, सम्पन्न-निर्धन तथा बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक के बीच सन्तुलित भागीदारी सुनिश्चित कर पाये हैं? आरक्षण व्यवस्था ने वंचित समुदायों में नेतृत्व निर्माण की प्रक्रिया को गति अवश्य दी है, किन्तु इसके साथ ही लाभान्वित और वंचित समूहों के बीच नयी खाइयाँ भी उभरी हैं। 'पिछड़ा', 'अति पिछड़ा', 'दलित' और 'महादलित' जैसी श्रेणियों का निर्माण इसी सामाजिक यथार्थ का परिणाम है। माला-मादिगा, चमार-जाटव, पासवान-भर-मुसहर, महार-मांग तथा मीणा-गुर्जर जैसे अनेक समुदायों के बीच आरक्षण और वर्गीकरण को लेकर न्यायालयों में